वर्ष-69 अंक-09 ❖ सितम्बर 2026 (कुल पृष्ठ-20) प्रति अंक : मूल्य ₹ 10/-

भारतीय भाषाओं की
समन्वय-संस्कृति का उद्‌गाता

मंगल प्रभात

ग्राम-स्वराज्य

ग्राम-स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं करेगा; और फिर भी बहुतेरी दूसरी जरूरतों के लिए—जिनमें दूसरोंका सहयोग अनिवार्य होगा।—वह परस्पर सहयोग से काम लेगा। इस तरह हरएक गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर ले। उसके पास इतनी सुरक्षित जमीन होनी चाहिये, जिसमें ढोर चर सकें और गाँव के बड़ों व बच्चों के लिए मन-बहलाव के साधन और खेल-कूद के मैदान वगैरा का बन्दोबस्त हो सके। इसके बाद भी जमीन बची तो उसमें वह ऐसी उपयोगी फसलें बोयेगा, जिन्हें बेचकर वह आर्थिक लाभ उठा सके; यों वह गाँजा, तम्बाकू, अफीम वगैरा की खेती से बचेगा।

हरएक गाँव में गाँव की अपनी एक नाटकशाला, पाठशाला और सभा-भवन रहेगा। पानी के लिए उसका अपना इन्तजाम होगा—वाटर वर्क्स होंगे—जिससे गाँव के सभी लोगों को शुद्ध पानी मिला करेगा। कुओं और तालाबों पर गाँव का पूरा नियंत्रण रखकर यह काम किया जा सकता है। बुनियादी तालीम के आखिरी दरजे तक शिक्षा सबके लिए लाजिमी होगी। जहाँ तक हो सकेगा, गाँव के सारे काम सहयोग के आधार पर किये जायेंगे। जात-पात और क्रमागत अस्पृश्यता के जैसे भेद आज हमारे समाज में पाये जाते हैं, वैसे इस ग्राम-समाज में बिल्कुल नहीं रहेंगे। **—गांधीजी**

गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा

1, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, सन्निधि, राजघाट, नई दिल्ली-110002

5-6 सितम्बर, 2026 Postal R.No.DL(C)-01/1242/2024-26
मंगल प्रभात मासिक RNI-813/57

इस अंक में

1.	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन्दौर (29 मार्च, 1918) में महात्मा गांधी का लिखित भाषण			03
2.	संत तुकाराम की विविध साधना	**–काका कालेलकर**		6
3.	अर्थ-मुक्त चिंतन की ओर	**–विनोबा भावे**		8
4.	गुजरात की हिन्दी सेवा	**–न. अं. व्यास**		11
5.	बबलभाई मेहता : गुजरात में गांधीयुग के अप्रतिम हस्ताक्षर	**–रमेश भारद्वाज**		15
6.	बोडो भाषा ऑफलाइन/ऑनलाइन पाठ्य सामग्री	**–संपादक**	*कवर पृष्ठ*	19
7.	सुश्री सुरेन्द्र सैनी को श्रद्धांजलि	**–कुसुम शाह**	*कवर पृष्ठ*	19
8.	अस् पर से असत् यानी आदिम सत्य	**–काका कालेलकर**	*कवर पृष्ठ*	20

ई-मेल अथवा व्हाट्सएप द्वारा 'मंगल प्रभात' मंगवाने के लिए सम्पर्क करें–
ई-मेल : ghss.sannidhi@gmail.com • व्हाट्सएप नं. : 9911891104

मंगल प्रभात के प्रत्येक अंक का **e-paper** गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा की वेबसाईट **www.ghsssannidhi.org** पर उपलब्ध है।

'मंगल प्रभात' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं। उनके साथ मंगल प्रभात के सम्पादक का या संस्था का सहमत होना जरूरी नहीं है।

सम्पादक	:	**प्रो. रमेश भारद्वाज**		
सम्पादकीय सलाहकार	:	**प्रो. अब्दुल अलीम, कृष्णा शर्मा एवं सावित्री भारद्वाज**		
वार्षिक चन्दा	:	**₹ 100/-**	**पंचवर्षीय** :	**₹ 500/-**
एक प्रति	:	**₹ 10/-**	**दस वर्षों के लिए** :	**₹ 1000/-**

हिन्दी दिवस के उपलक्ष्य में विशेष

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन्दौर (29 मार्च, 1918) में महात्मा गांधी का लिखित भाषण

आपने मुझे इस सम्मेलन का सभापतित्व देकर कृतार्थ किया है। हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से मेरी योग्यता इस स्थान के लिए कुछ भी नहीं है, यह मैं खूब जानता हूँ। मेरी हिन्दी भाषा का असीम प्रेम ही मुझे यह स्थान दिलाने का कारण हो सकता है। मैं उम्मीद करता हूँ कि प्रेम की परीक्षा में मैं हमेशा उत्तीर्ण होऊँगा।

साहित्य का प्रदेश भाषा की भूमि जानने पर ही निश्चित हो सकता है। यदि हिन्दी भाषा की भूमि सिर्फ उत्तर प्रान्त होगी तो साहित्य का प्रदेश संकुचित रहेगा। यदि हिन्दी भाषा राष्ट्रीय भाषा होगी तो साहित्य का विस्तार भी राष्ट्रीय होगा। जैसे भाषक, वैसी भाषा। भाषा-सागर में स्नान करने के लिए पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर से पुनीत महात्मा आयेंगे तो सागर का महत्व स्नान करनेवालों के अनुरूप होना चाहिए। इसलिए साहित्य की दृष्टि से भी हिन्दी भाषा का स्थान विचारणीय है।

हिन्दी भाषा की व्याख्या का थोड़ा सा ख्याल करना आवश्यक है। मैं कई बार व्याख्या कर चुका हूँ कि हिन्दी भाषा वह भाषा है जिसको उत्तर में हिन्दू व मुसलमान बोलते हैं और जो नागरी अथवा फारसी लिपि में लिखी जाती है। यह हिन्दी एकदम संस्कृतमयी नहीं है, न वह एकदम फारसी शब्दों से लदी हुई है। देहाती बोली में जो माधुर्य मैं देखता हूँ वह न लखनऊ के मुसलमान भाइयों की बोली में, न प्रयाग के पंडितों की बोली में पाया जाता है। भाषा वही श्रेष्ठ है जिसको जन-समूह सहज में समझ ले। देहाती बोली सब समझते हैं। भाषा का मूल करोड़ों मनुष्य रूपी हिमालय से मिलेगा, और उसमें ही रहेगा। हिमालय में से निकलती हुई गंगा जी अनन्त काल तक बहती रहेंगी। ऐसे ही देहाती हिन्दी का गौरव रहेगा और जैसे छोटी सी पहाड़ी से निकलता हुआ झरना सूख जाता है वैसे ही संस्कृतमयी तथा फारसीमयी हिन्दी की दशा होगी।

हिन्दू-मुसलमानों के बीच में जो भेद किया जाता है वह कृत्रिम है। ऐसी ही कृत्रिमता हिन्दी व उर्दू भाषा के भेद में है। हिन्दुओं की बोली से फारसी शब्दों का सर्वथा त्याग और मुसलमानों की बोली से संस्कृत का सर्वथा त्याग अनावश्यक है। दोनों का स्वाभाविक संगम गंगा-यमुना के संगम सा शोभित अचल रहेगा। मुझे उम्मीद है कि हम हिन्दी-उर्दू के झगड़े में पड़कर अपना बल क्षीण नहीं करेंगे। लिपि की तकलीफ कुछ जरूर है। मुसलमान भाई अरबी लिपि में ही लिखेंगे, हिन्दू बहुत कर नागरी लिपि में लिखेंगे। राष्ट्र में दोनों को स्थान मिलना चाहिए। अमलदारों को दोनों लिपि का ज्ञान आवश्यक होना चाहिए। इसमें कुछ कठिनाई नहीं है। अन्त में जिस लिपि में ज्यादा सरलता होगी उसी की विजय होगी। भारतवर्ष में परस्पर व्यवहार के लिए एक भाषा होनी चाहिए, इसमें कुछ संदेह नहीं है। यदि हम हिन्दी-उर्दू का झगड़ा भूल जायें तो हम जानते हैं कि मुसलमान भाइयों की तो उर्दू ही राष्ट्रीय भाषा है। इस बात से यह सहज में सिद्ध होता है कि हिन्दी या उर्दू मुगलों के जमाने में राष्ट्रीय भाषा बनती जाती थी।

आज भी हिन्दी से स्पर्धा करनेवाली दूसरी कोई भाषा नहीं है। हिन्दी उर्दू का झगड़ा न छेड़ने से राष्ट्रीय भाषा का सवाल सरल हो जाता है। हिन्दुओं को फारसी शब्द थोड़ा-बहुत जानना पड़ेगा। इसलामी

भाइयों को संस्कृत शब्द का ज्ञान संपादन करना पड़ेगा। इससे हिन्दी भाषा का बल बढ़ जायगा, और हिन्दू-मुसलमानों में एकता का एक बड़ा साधन हमारे हाथ में आ जायगा। अंग्रेजी भाषा का मोह दूर करने के लिए इतना अधिक परिश्रम करना पड़ेगा कि हमें लाजिम है कि हम हिन्दी-उर्दू का झगड़ा न उठायें। लिपि की तकरार भी हम को न उठानी चाहिए।

अंग्रेजी भाषा राष्ट्रीय भाषा क्यों नहीं हो सकती है, अंग्रेजी भाषा का बोझा प्रजा के ऊपर रखने से क्या हानि होती है, हमारी शिक्षा का माध्यम आजतक अंग्रेजी होने से प्रजा कैसी कुचल दी गई है। हमारी जातीय भाषा क्यों कंगाल हो रही है, इन सब बातों पर मैं अपनी राय भागलपुर और भरुच के व्याख्यानों में दे चुका हूँ। इसीलिए मैं यहाँ फिर नहीं देना चाहता। इन दोनों व्याख्यानों में से भाषा सम्बन्धी भाग में इस व्याख्यान के परिशिष्ट रूप में रख दूँगा। हकीकत में इस बात में संदेह नहीं हो सकता। हमारे कविवर सर रवीन्द्रनाथ टागोर, विदुषी बेसेंट, लोकमान्य तिलक और अन्यान्य प्रतिष्ठित और अन्य व्यक्तियों का मंतव्य इस विषय में ऐसा ही है। कार्य की सिद्धि में कठिनाइयाँ तो होंगी ही, किन्तु उसका उपाय करना इस सभा पर निर्भर है। लोकमान्य तिलक महाराज ने अपना अभिप्राय कार्य करके बता दिया है। उन्होंने 'केसरी' में और 'मराठा' में हिन्दी विभाग शुरू कर दिया है। भारतरत्न पण्डित मदनमोहन मालवीय जी का अभिप्राय भी हिन्दुस्तान में अज्ञात नहीं है। तो भी मुझे मालूम है कि हमारे कई विद्वान नेताओं का अभिप्राय है कि कुछ वर्षों तक तो सिर्फ अंग्रेजी ही राष्ट्रीय भाषा रहेगी। इन नेताओं से हम विनयपूर्वक कहेंगे कि अंग्रेजी के इस मोह से प्रजा पीड़ित हो रही है। अंग्रेजी शिक्षा पानेवालों के ज्ञान का लाभ प्रजा को बहुत ही कम मिलता है और अंग्रेजी शिक्षित वर्ग और आम लोगों के बीच बड़ा दरिया आ पड़ा है।

कहना आवश्यक नहीं है कि मैं अंग्रेजी भाषा से द्वेष नहीं करता हूँ। अंग्रेजी साहित्य भण्डार से मैंने भी बहुत रत्नों का उपयोग किया है। अंग्रेजी भाषा के मार्फत हमको विज्ञान इत्यादि का खूब ज्ञान लेना है। अंग्रेजी का ज्ञान कितने भारतवासियों के लिए आवश्यक है। लेकिन इस भाषा को उसका उचित स्थान देना एक बात है, उसकी जड़-पूजा करनी दूसरी बात है।

हिन्दी-उर्दू राष्ट्रीय भाषा होनी चाहिए, इस बात को सिर्फ स्वीकार करने से हमारा मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता है, तो किस प्रकार हम सिद्धि पा सकेंगे? जिन विद्वानों ने इस मण्डप को विभूषित किया है वे भी अपनी वक्तृता से हमको इस विषय में जरूर कुछ सुनायेंगे। मैं सिर्फ भाषा-प्रचार के बारे में कुछ कहूँगा। भाषा-प्रचार के लिए हिन्दी-शिक्षक होना चाहिए। हिन्दी बंगाली सीखनेवालों के लिए एक छोटी सी पुस्तक मैंने देखी है। वैसी ही मराठी में भी है। अन्य भाषाभाषियों के लिए ऐसी किताबें देखने में नहीं आई हैं। यह काम करना जैसा सहज है वैसा ही आवश्यक है। मुझे उम्मीद है कि यह सम्मेलन इस कार्य को शीघ्रता से अपने हाथ में लेगा। ऐसी पुस्तकें विद्वान् और अनुभवी लेखकों के द्वारा बनवानी चाहिए।

सबसे कष्टदायी मामला द्रविड़ भाषाओं के लिए है। वहाँ तो कुछ प्रयत्न ही नहीं हुआ है। हिन्दी भाषा सिखानेवाले शिक्षकों को तैयार करना चाहिए। ऐसे शिक्षकों की बहुत ही कमी है। ऐसे एक शिक्षक प्रयाग से आपके लोकप्रिय मंत्री भाई पुरुषोत्तमदास जी टण्डन के द्वारा मुझे मिले हैं।

हिन्दी भाषा का एक भी संपूर्ण व्याकरण मेरे देखने में नहीं आया है। जो हैं सो अंग्रेजी में विलायती पादरिओं के बनाये हुए हैं। ऐसा एक व्याकरण डाक्टर कैलाग का रचा हुआ है। संशोधन से बनाया हुआ है। हिन्दुस्तान की अन्यान्य भाषाओं का मुकाबला करनेवाला व्याकरण हमारी भाषा में होना चाहिए। हिन्दी प्रेमी विद्वानों से मेरी नम्र विनंती है कि वे इस त्रुटि को दूर करें। हमारी राष्ट्रीय सभाओं में हिन्दी भाषा का ही

इस्तेमाल होना आवश्यक है। कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं और प्रतिनिधियों द्वारा यह प्रयत्न होना चाहिए। मेरा अभिप्राय है कि यह सभा ऐसी प्रार्थना आगामी कांग्रेस के कर्मचारियों के सम्मुख उपस्थित करे।

हमारी कानूनी सभाओं में भी राष्ट्रीय भाषा द्वारा कार्य चलना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक प्रजा को राजनीतिक कार्यों में ठीक तालीम नहीं मिलती है। हमारे हिन्दी अखबार इस कार्य को थोड़ा सा करते तो हैं लेकिन प्रजा को तालीम अनुवाद से नहीं मिल सकती है। हमारी अदालतों में जरूर राष्ट्रीय भाषा और प्रांतीय भाषा का प्रचार होना चाहिए। न्यायाधीशों की मार्फत जो तालीम हमको सहज ही मिल सकती है उस तालीम से आज प्रजा वंचित रहती है।

भाषा की सेवा जैसी हमारे राजा-महाराजा लोग कर सकते हैं वैसी अंग्रेज सरकार नहीं कर सकती। महाराजा होलकर जी की काउन्सिल में, कचहरी में और हर एक कामों में हिन्दी का और प्रान्तीय बोली का ही प्रयोग होना चाहिए। उनके उत्तेजन से भाषा बहुत ही बढ़ सकती है। इस राज्य की पाठशालाओं में शुरू से आखिर तक सब तालीम मादरी जबान में देने का प्रयोग होना चाहिए। हमारे राजा-महाराजाओं से भाषा की बड़ी भारी सेवा हो सकती है। मैं उम्मीद रखता हूँ कि होलकर महाराज और उनके अधिकारी वर्ग इस महान् कार्य को उत्साह से उठा लेंगे।

ऐसे सम्मेलन से हमारा सब कार्य सफल होगा, ऐसी समझ भ्रम ही है। जब हम प्रति दिन इसी कार्य की धुन में लगे रहेंगे तब ही इस कार्य की सिद्धि हो सकेगी। सैंकड़ों स्वार्थ-त्यागी विद्वान् जब इस कार्य को अपनायेंगे तब ही सिद्धि सम्भव है।

मुझे खेद तो यह है कि जिन प्रान्तों की मातृभाषा हिन्दी है वहाँ भी उस भाषा की उन्नति करने का उत्साह नहीं दिखाई देता है। उन प्रान्तों में हमारे शिक्षित वर्ग आपस में पत्र-व्यवहार और बातचीत अंग्रेजी में करते हैं। एक भाई लिखते हैं कि हमारे अखबार चलानेवाले अपना व्यवहार अंग्रेजी के मारफत से करते हैं, अपने हिसाब किताब वे अंग्रेजी में ही रखते हैं। बात छोटी है, लेकिन उसमें रहस्य बहुत है। फ्रांस में रहनेवाले अंग्रेज अपना सब व्यवहार अंग्रेजी ही में रखते हैं, हम अपने देश में अपने महत् कार्य विदेशी भाषा में करते हैं। मेरा नम्र, लेकिन दृढ़ अभिप्राय है कि जबतक हम हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय और अपनी-अपनी प्रांतीय भाषाओं को उनका योग्य स्थान नहीं देंगे तब तक स्वराज्य की सब बातें निरर्थक हैं। इस सम्मेलन द्वारा भारतवर्ष के इस बड़े प्रश्न का निराकरण हो जाय, ऐसी मेरी आशा और प्रभु प्रति प्रार्थना है।

□

गांधीवाद और समाजवाद

गांधीवाद और समाजवाद का उद्देश्य यद्यपि बहुत-कुछ एक-ही-सा मालूम होता है, फिर भी उसकी पहुँच के मार्ग में काफी अन्तर है। समाजवाद व्यक्ति के सुधार को कोई पृथक् महत्व नहीं देता। वह समाज की सारी व्यवस्था करके उसे प्रत्येक के माथे मढ़ता है। यह सभी को मान्य है कि समष्टि व्यक्ति का ही समुदाय है, समाज व्यक्तियों से ही बनता है; किन्तु प्रश्न यह होता है कि समाज को उन्नत बनाने के लिए पहले व्यक्ति को उन्नत बनाना होगा या किसी सामाजिक व्यवस्था के द्वारा हम समाज को उन्नत बना सकते हैं जिससे व्यक्ति की भी उन्नति हो पायगी? गांधीवाद का कहना यह है कि व्यक्तियों के सुधार और उनकी उन्नत अवस्था के द्वारा ही समाज की उन्नत अवस्था स्थापित हो सकती है।

–डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

संत तुकाराम की विविध साधना

✍ **काका कालेलकर**

महाराष्ट्र के संत शिरोमणि तुकाराम छत्रपति शिवाजी और समर्थ रामदास स्वामी के समकालीन थे। उनका खानदान था भक्त बनियों का। पंढरपुर के भगवान विट्ठल अथवा विठोबा के प्रति परम्परा से उनकी भक्ति थी। एक भीषण अकाल के कारण उनका धन्धा करीब टूट गया। उन्होंने अपना चित्त भगवान की ओर लगा दिया और सदाचार के प्रचार में उन्होंने अपने वचन, कीर्तन और उपदेश के द्वारा इतना काम किया कि महाराष्ट्र की धर्मपरायण जनता मानती है कि महाराष्ट्र की सन्त संस्कृति तुकाराम की बदौलत ही पनपी। जिस संत संस्कृति की नींव ज्ञानदेव और नामदेव ने डाली और जिसका मंदिर एकनाथ जैसे भागवत सम्प्रदायी सन्तों ने बनाया, उसका शिखर और कलश तुकाराम स्वयं बन गये।

नम्रता की मूर्ति तुकाराम स्वयं अपने को जाति के शूद्र मानते थे। इस तरह उन्होंने अपने को जनता के साथ एकरूप बनाया। तुकाराम का पेशा पंसारी का याने वैश्य का था। इनके पुरखे किसी लड़ाई में शरीक होकर मारे गये थे। और स्वयं तुकाराम ने समाज के दम्भ और दुराचार के खिलाफ प्रचार और सत्याग्रही विरोध चलाया था, इसलिए वे क्षत्रिय भी थे। सन्त संस्कृति की सेवा करते उन्होंने गीता-भागवत आदि ग्रन्थों का अध्ययन भी किया। पुराणिकों की कथाओं में तो वे बचपन से ही पले हुए थे। पवित्र जीवन, धर्मसेवा और अध्यात्म-साधना सब बातों में किसी ब्राह्मण से वे कम नहीं थे। इस तरह चारों वर्णों के उन्हें हम स्वामी कह सकते हैं।

बचपन से अथवा वंशपरंपरागत उनकी साधना भक्तिमार्गी थी। किन्तु एकाग्रता से भक्ति करनेवाले को भगवान ज्ञानयोग देता ही है। नामसंकीर्तन, विठोबा का दर्शन और पूजा आदि भक्तिमार्ग की साधना में से वे भी ध्यानी और ज्ञानी हुए। घर का काम और पेशा भले ही उन्होंने छोड़ दिया, समाजसेवा का काम उत्कटता से करते हुए अच्छे कर्मयोगी भी थे। शुरू-शुरू में अद्वैत के प्रति उन्हें रुचि नहीं थी। वे कहते थे, 'अद्वैतीते माझें नाहीं समाधान।' यहाँ हमारे जमाने के कविवर रवीन्द्र का वचन याद आता है–

वैराग्यसाधने मुक्ति से आमार नाय।

जीवनविमुख वैराग्य की उग्रता से साधना करके मिलनेवाली मुक्ति मेरे काम की नहीं।

जब तुकाराम की साधना बढ़ी और उनमें आत्मविश्वास प्रगट हुआ तब वे कहने लगे, वेदों का अर्थ तो हमीं को मालूम है। और लोग, बाकी के लोग वेद रट-रटकर भले ही उसका बोझा अपने सिर पर उठा लें।

वेदाचा तो अर्थ आम्हांसचि ठावा
येरांनी बहावा भार माथा।

ऐसे तुकाराम सब तरह की साधनाएँ साधकर वेदान्त दर्शन में प्रवीण होते हुए अद्वैत साधना तक पहुँच गये। किसी समय उन्हें गौडपादाचार्य का अजाति– वाद भाया होगा। उसकी साधना करके उन्हें जो अनुभव हुआ, वह वे नीचे के अभंग में ग्रंथित करते हैं।

कांहींच मी नव्हे कोणीये गांवींचा
एकटा ठायींचा ठायीं एक।।
नहीं जात कोठे येत फिरोनियाँ
अवघेचि वांया बिण बोल।।
नाहीं मज कोणी आपुलें दुसरे
कोणाचा मी खरे कॉंहीं नव्हे।।
नाहीं आम्हा ज्यावें मरावें लागत

आहों अखंडित जैसे तैसे।।
तुका म्हणे नाम-रूप नाहीं आम्हां
वेगळा या कर्मा अकर्मासी।।

आत्मा अमर है, सनातन है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इस विश्व में अकेला आत्मा ही परमात्मा के रूप में अखण्ड रहता है। उसके साथ दूसरा कोई है नहीं। ऐसे आत्मा को न है नाम, न रूप। सर्वव्यापी होने से न वह कहीं जाता न कहीं से आता है। वही एक अकेला है।

इस वस्तुस्थिति के खिलाफ जो भी अनुभव आता है वह सच नहीं है, फिर उसे भ्रम कहिये, माया कहिये या दूसरा कोई नाम दीजिए।

तुकाराम कहते हैं कि आत्मस्वरूप बनने पर मेरा वर्णन कैसे हो सकता है? मैं कुछ नहीं हूँ। किसी गाँव का या स्थान का भी नहीं हूँ। मैं अकेला अपनी ही जगह पर कायम हूँ। न मैं कहीं जाता हूँ, न लौटकर आता हूँ। जन्म-मरण का आना-जाना सब कुछ व्यर्थ की बातें हैं। मेरे लिए न कोई अपना है न पराया। मैं किसी का हूँ, यह भी बात सही नहीं है। हम सन्तों को न जीना पड़ता है, न जन्म लेना पड़ता है और न मरना पड़ता है। हम जैसे हैं वैसे अखण्डित सनातन हैं ही।

तुकाराम कहते हैं जिस नाम और रूप से यह सारा विश्व पहचाना जाता है, वह नामरूप हमारे लिए है नहीं। कर्म और अकर्म दोनों से हम निराले ही होते हैं। हम कर्म करें या न करें, दोनों तरह का बन्धन हमें है नहीं। ऐसा शुद्ध, बुद्ध, नित्य और मुक्त आत्मा ही हम हैं। हमारी हस्ती और हमारी शान्ति अखण्डित होती है। इसीलिए बन्धन और मोक्ष दोनों से हम परे हैं। यही है हमारी सहज स्थिति।

इस तरह अभंग तुकाराम ने कम लिखे हैं क्योंकि वे ज्यादातर जनता के लिए ही अभंग वाणी लिखते थे। लेकिन साधना का जीवन व्यतीत करते उन्हें जिस वक्त जो अनुभव होता था, स्पष्ट रूप से कह देते थे। अपने जीवन के साथ समाज को सहभागी करना और सहभोजी बनने के लिए बुलाना उनका स्वभाव ही था।

तुकाराम की इस अनुभव वाणी की प्रतिध्वनि वेदान्त ग्रन्थों में पायी जाती ही है। खास करके 'पंचदशी' में और 'जीवनमुक्ति-विवेक' में। काश कि कोई तुकाराम की जीवन-साधना का क्रम उन्हीं के अभंगों को लेकर बनावे।

□

शिक्षा का ध्येय

गांधीजी की राय में शिक्षा का ध्येय 'या विद्या सा विमुक्तये' है। चित्त-शुद्धि, मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण, निडरता, स्वावलम्बन और आजीविका के साधन, गुलामी से मुक्त होने की इच्छा और लगन का अभाव हो, तो शिक्षा नहीं है। अस्सी फीसदी लोगों के जीवन की आवश्यकता का विचार न कर के मुट्ठी भर लोगों के जीवन के लिये आवश्यक और राज्य कुछ महकमों की आवश्यकताओं को मद्देनजर रखते हुए दिया हुआ शिक्षण, अराष्ट्रीय शिक्षण है। इस प्रकार शिक्षितों और अशिक्षितों में भयंकर अंतर उत्पन्न हुआ है। जनता के नेताओं को मार्गदर्शक और प्रतिनिधि बनाने के बजाय इस अराष्ट्रीय और झूठी शिक्षा ने विद्वानों को जनता से अलग कर दिया है और लोगों के जीवन और भावनाओं को न समझने वाले, उनके साथ आत्मीयता से घुल-मिल न सकने वाले और लोगों के पक्ष को पुष्ट करने के अयोग्य बनाया है।

–पुण्डलीकजी कातगडे

अर्थ-मुक्त चिंतन की ओर

✍ **विनोबा भावे**

हमारी संस्थाओं का काम आज तक सराहनीय माना जाता था। लेकिन अब अगर हम अपने कामों में उचित परिवर्तन नहीं करेंगे, तो हमारी संस्थाएँ उपयोगिता-शून्य बन जायेंगी। बच्चा शुरू में बोलने लगता है तो माँ-बाप उसका कौतुक करते हैं, लेकिन बड़ा होने पर भी वह बोलता ही रहेगा, तो कहेंगे कि तू बोलता तो है, लेकिन करता कुछ नहीं है। तो बीस साल पहले हमने चरखे बनाये। वह चीज सराहनीय थी, क्योंकि उसमें संशोधन करना था। लेकिन आज भी अगर हम इसी पर संतुष्ट रहेंगे, तो हमारी हस्ती पहले की तरह आज तेजस्वी नहीं रह सकेगी। अब तो होना यह चाहिए कि हमारे मजदूर और हम समान भूमिका पर आ जायें। हम भी उनके साथ परिश्रम करें।

धनच्छेद का लक्ष्य

अब हमें पैसे का छेद ही करना होगा। आज तक हम दूसरे बहुत-से कामों में लगे थे, इसलिए यह धनच्छेद का कार्यक्रम नहीं कर सके। लेकिन अब तो हमको स्वावलंबी साम्ययोग सिद्ध करना पड़ेगा। मजदूर की तरह परिश्रम करके हम पवित्र जीवन बिता सकते हैं, यह साबित करना होगा। इस प्रयोग में हमारे शरीर चले जायें, तो भले चले जायें। आखिर शरीर जाने ही वाला है। आराम से रहेंगे तब भी वह जानेवाला ही है। इसलिए इसमें डरने की कोई बात नहीं है।

मैंने जब सोचा और तय किया कि मुझे मजदूर की हालत में जाना चाहिए, तब रोज ही मुझे नयी-नयी बातें सूझती गयीं। एक बात यह सूझी कि वाहन का उपयोग मुझे नहीं करना चाहिए। जीवन परिवर्तन की दृष्टि से हमको किस तरह सोचना होगा इसकी दिशा बताने के लिए यह एक मिसाल मैंने दी। इसी तरह औषधियों के बारे में। बाहर की दवाएँ हमको नहीं लेनी चाहिए। प्रकृतिमाता मौजूद है। उसमें से जो दवाएँ आसानी से मिलेंगी, वही लेनी चाहिए। औषधियों का उपयोग नहीं करना है, ऐसा तय करते हैं, तो हम बीमार ही न पडें, ऐसी कोशिश करनी चाहिए।

नमक एक छोटी चीज है। लेकिन हमको वह इतनी महत्त्व की लगती है कि हररोज के आहार में वह होनी ही चाहिए, ऐसा हम कहते हैं। नमक अगर इतनी जरूरी चीज होती, तो ईश्वर ने वह हर जगह रखी होती। लेकिन वह तो पाँच सौ मील दूरी पर समुद्र के किनारे बनता है। हमारा जीवन कृत्रिम हो गया है। तो हमें वह हररोज खाने की जरूरत महसूस होती है। अगर तरकारी काफी मात्रा में मिले, तो नमक की कोई खास जरूरत नहीं होनी चाहिए; क्योंकि तरकारी में क्षार काफी मिल जाता है।

इस तरह बारीकी से अपना जीवन नियमित करते जायेंगे, तभी हम इस प्रयोग में कामयाब होंगे। कौन-सी चीज अधिक चाहिए, कौन-सी कम, इसका भी विवेक होना चाहिए। मनुष्य को हवा सर्वाधिक चाहिए, इसलिए कपडे का उपयोग कम करके खुली हवा में काम करना चाहिए। इस तरह करते जायेंगे, तो सच्चे अर्थ में हम श्रीमान बनेंगे। यह सारा उत्साहवर्धक काम है। इस तरह का प्रयोग हम अपनी संस्थाओं में करेंगे, तो बाहर से संस्था देखने के लिए आनेवाले लोगों को स्फूर्ति मिलेगी, नहीं तो उनको यहाँ सारे भग्नावशेष देखने को मिलेंगे। ऐसे भग्नावशेष देखकर भी कुछ लोग पावन हो जायेंगे। लेकिन वह

उन लोगों की भावना के कारण होगा। आज भी तीर्थस्थान में जाकर कुछ लोग पावन होते ही हैं। वे पंडों की तरफ ध्यान नहीं देते, भगवान की मूर्ति ही देखते हैं। इस तरह खुद पावन होने की भावना लेकर जो लोग हमारी संस्थाएँ देखने आयेंगे, वे जरूर पावन होकर जायेंगे। परंतु हमें अपनी संस्थाओं को भग्नावशेष नहीं बनने देना चाहिए। समझना चाहिए कि यह कार्यक्रम नैतिक उत्थान का है। आर्थिक उत्थान तो उसमें है ही, क्योंकि परमार्थ में अर्थ तो आ ही जाता है।

हमारे सामने मूलभूत प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या हमारा चिंतन पैसे के आधार पर खड़ा होगा? क्या हम ऐसी योजनाएँ करेंगे, जिनमें पैसे का आधार बढ़ेगा? सेवाग्राम में नयी तालीम के लिए गांधी निधि से पैसे मांगे गये और कहा गया कि इसमें से पुस्तकालय आदि बनायेंगे। मैंने उन लोगों से कहा कि इस तरह नहीं होना चाहिए। हमें आरंभ से ही जनता के सामने योजना रखनी चाहिए। इसमें हमें पुरुषार्थ करना होगा। आपको ग्रंथालय चाहिए, जनता के पास पहुंच जायें। धीरे-धीरे होगा।

मैं मैत्री आश्रम (असम) में बहनों को ज्ञानेश्वरी पढ़ाता था। दो असमी और एक मराठी, तीन बहनें थीं। उन्हीं दिनों पुणे में दांडेकर की ज्ञानेश्वरी प्रकाशित हुई थी। मैंने डॉ. दातार को ज्ञानेश्वरी की तीन प्रतियां खरीदकर भेजने को कहा। वे संपादक के पास पहुंचे, अपने साथ पुस्तकों के पैसे भी ले गये थे। लेकिन दांडेकरजी ने पैसे नहीं लिये और तीन के बदले चार प्रतियां दे दीं, यह कहकर कि चौथी बाबा के लिए है। आपके काम के लिए हिंदुस्तान में कितनी सहानुभूति है, इसकी यह एक छोटी-सी मिसाल है।

डॉ. दातार मुझे मिलने के लिए असम आये थे। मेरे स्थान पर पहुँचने के लिए बीच में नौका से एक नदी पार करनी पड़ी। नाववाले ने पूछा, कहाँ जायेंगे। इन्होंने जवाब दिया, बाबा के पास; तो उसने किराये का पैसा नहीं लिया। हमारी योग्यता कितनी है, यह हम जानते हैं, लेकिन भारत भर में भावना पैदा हुई है। कश्मीर से कन्याकुमारी और कामरूप तक एक त्रिकोण है। सर्वत्र एक भावना बनी है। उसका हमें भान हो, तो हम पैसे का आधार लेकर कोई योजना नहीं करेंगे। फिर जब जितना जरूरी हो, उतना हमें मिल जायेगा। इसलिए हमने आश्रमों का जो विचार किया, उसमें अन्यों का आधार माना।

संन्यासी को गृहस्थाधार

हमारी संस्कृति में माना गया है कि संन्यासी गृहस्थ का आधार लेता है। गृहस्थ उत्तरदायी व्यक्ति है। वह अपना घर संभालता है और समाज को भी संभालता है। संन्यासी का भार भी उसी पर है। तो मैंने ऐसी योजना की कि ब्रह्मविद्या की जो संस्था होगी, वह दूसरी किसी संस्था के अंतर्गत हो। यह योजना जितनी सधी है, उतना काम सुरक्षित रहा है। मैत्री आश्रम का पूरा जिम्मा कस्तूरबा ट्रस्ट का है। जमीन, मकान सब ट्रस्ट के हैं। हम असम में घूमते थे तब हमें जो पैसा मिला, वह सब कस्तूरबा ट्रस्टवालों को दे दिया, ताकि साधक लोग उससे बिल्कुल मुक्त रह सकें।

दूसरी बात, जैसे बिना परिश्रम किये खाना एक पाप है, वैसे अपने श्रम से खाना दूसरा पाप है। हमने जो कुछ भी श्रम किया हो, उसे समाज को समर्पण करें और फिर समाज से जो मिले, वह खायें। अगर समाज की हालत कमजोर रही, तो हमने जो अर्पण किया उससे कुछ कम हमें मिलेगा। और समाज की हालत अच्छी रही, तो हमने जितना समर्पण किया, उससे ज्यादा मिलेगा। अगर दोनों की हालत बराबर रही तो हमने जितना दिया, उतना ही हमें वापस मिलेगा। लेकिन तब यही होगा कि हमने समाज का खाया, अपना नहीं; परिश्रम से खाया, बिना परिश्रम के नहीं। परंतु यदि अपने परिश्रम से खाने की बात

रखेंगे, तो उस पर हमारा हक चिपका रहेगा। हमारी वासना रहेगी।

यदि सार्वजनिक पैसे का आधार लेते हैं, तो पैसा संभालने की जिम्मेवारी भी आती है। सार्वजनिक पैसे का उपयोग भी करें और फक्कड़पन रखें, तो वह ठीक नहीं है। पैसा आया और गया, उसकी परवाह नहीं, क्योंकि पैसा तो समाज का था, अगर ऐसा मानते और करते हैं, तो हम अपने धर्म से चूकते हैं। मान लें, पैसे हमारे ही होते, तो उसका ठीक इन्तजाम करना हमारा कर्तव्य हो ही जाता। जहाँ हम पैसा लेते हैं, वहाँ उसकी जिम्मेवारी आ ही जाती है।

जमनालालजी चरखा संघ के अध्यक्ष थे। एक बार किसी ने उनके पैसे डुबोये। ऐसे प्रसंगों पर वे हमेशा मेरी और बापू की, दोनों की सलाह लेते थे। दोनों की सलाह मेल खाती, तो सवाल ही नहीं था, लेकिन अगर ऐसा नहीं हुआ तो चर्चा भी करते थे। इस प्रसंग पर भी उन्होंने मुझे पूछा कि अब क्या करना चाहिए? मैंने पूछा, संपत्ति जमनालालजी की है या ट्रस्ट की? बोले, ट्रस्ट की। तो मैंने सलाह दी कि कोर्ट में जाना चाहिए। फिर वे बापू के पास गये। बापू ने कहा, पूछते क्या हो, कोर्ट में जाना ही चाहिए। उन्हें बड़ा ताज्जुब हुआ। बापू हमेशा कहते थे कि हमें दंड-नीति का, सरकार का आधार नहीं लेना चाहिए। तो जमनालालजी के चित्त का समाधान नहीं हुआ। वे फिर मेरे पास आये चर्चा करने के लिए। उन्होंने कहा, यह कहाँ तक उचित है? मैंने कहा, सवाल तो यह आता है कि 'इस तरह पैसा रखना कहाँ तक उचित है? जब उसका जिम्मा लिया ही है, तो उसका विस्तार भी उसी प्रकार होना चाहिए।'

सारांश, ऐसी जिम्मेवारी जिसमें आती है, उसे हम अपने सिर पर उठायें ही क्यों? लेकिन हमने किसी कारण उठा लिया, तो उसका विस्तार भी उसी ढंग से होना चाहिए, दूसरे ढंग से नहीं। इसलिए हमारे आश्रम अगर अपनी आध्यात्मिक बुनियाद मजबूत रखना चाहते हैं, तो उन्हें पैसे का व्यवहार अपने हाथों नहीं करना चाहिए। किसी दूसरों के हाथों करना चाहिए, जो समाज के लिए जिम्मेवार हों, सज्जन हों और जिनके आश्रय में हम हों। ऐसी अप्रधान स्थिति (सेकंडरी पोजीशन) हमारी होनी चाहिए। हम गृहस्थ के आश्रित हैं। कस्तूरबा ट्रस्ट, ग्रामसेवा मंडल, जमनालाल बजाज ट्रस्ट, ये सब गृहस्थ हैं। फिर लोगों के पैसे इस्तेमाल करते हैं, तो ठीक हिसाब रखना चाहिए और ठीक व्यवहार होना चाहिए। जितनी मात्रा में आश्रम मदद लेता है, उतनी मात्रा में यह जिम्मेवारी होगी। इसलिए जितना शारीरिक और मानसिक परिश्रम हो सकता है, उतना ईमानदारी से करें। लेकिन चिंता मुक्त रहें।

□

नैतिक बल

"स्वयं आकाश भी टूट पड़े और अपने सब मनोरथ या सांसारिक ध्येय चूर-चूर हो जायें, तो भी अपने निश्चय पर अडिगता से, अकेला हो तो भी, चिपके रहने की शक्ति का अपने में निहित जो मूल स्रोत है, वही 'अध्यात्मबल', 'ईश्वर-निष्ठा का बल' है। और इस बल का वह अंश, जिसके कारण मनुष्य अपने ध्येय को सिद्ध करने के लिए अमुक नैतिकता या सदाचार से चिपका रहता है अथवा अमुक मार्गों का त्याग करने के निश्चय को कायम रखता है, उसका नैतिक बल कहा जा सकता है।"

–किशोरभाई मशरूवाला

गुजरात की हिन्दी सेवा

✍ न. अं. व्यास

पिछले अंक का शेष भाग

19वीं शताब्दि के भक्त कवि धीरा और भोजा ने भी हिन्दी के कई पद लिखे हैं। जूनागढ़ निवासी मनोहरदास ने हिन्दी में मनहर पद लिखे हैं इन पदों में व्यापक ब्रह्म का वर्णन और चर्चा के मिथ्यात्व का वर्णन किया गया है। उपनिषद के अनेक वाक्यों की झलक उनके हिन्दी पदों में मिलती है। वर्णाश्रमधर्म की महत्ता पर भी उन्होंने लिखा है। झूठे भक्त को कडवी शिक्षा और अभिमानी पंडित को उपदेश देकर उन्होंने कलियुग के गुरु के पाखण्डों का वर्णन किया है। उन्होंने ब्रह्म की तुलना कामधेनु से की है।

मनोहरदास का भाषा सौष्ठव और अलंकार-प्रभुत्व प्रशंसनीय है उनके कई पदों की तुलना हम मीराबाई के पदों से कर सकते हैं। स्वामी नारायण संप्रदाय के कवियों ने भी गुजराती के सिवा हिन्दी में काव्य लिखे हैं। इस संप्रदाय के साधु अच्छा अभ्यास करते और धर्म एवं जनसेवा के साथ-साथ साहित्य के लिए भी प्रयत्नशील रहते।

मुक्तानन्दु स्वामी (इ.स. 1761-1528) ने हिन्दी में 'विवेक चिंतामणि' और 'सत्संग शिरोमणि' नामक दो काव्य लिखे हैं। दोनों ग्रंथ सद्धर्म की वृद्धि के लिये लिखे गये हैं।

प्रेमानन्द स्वामी (इ.स. 1779-1845) ने 'प्रेम सखी' उपनाम से कई शृंगार के और वैराग्य के पद लिखे हैं। कहा जाता है कि उन्होंने हिन्दी में 7000 और गुजराती में 3000 पद बनाये हैं। उनकी कविता अत्यन्त रसिक एवं भावमय है। मोहक कविता और प्रेम भावना से ही उन्हें 'प्रेम सखी' का उपनाम मिला था।

ब्रह्मानन्द स्वामी (इ.स. 1825-1829) ने संप्रदाय प्रदीप, सुमति प्रकाश, वर्तमान विवेक, ब्रह्मविलास, उपदेश चिन्तामणि व कई पद हिन्दी में लिखे हैं। संप्रदाय प्रदीप में श्रीमद् उद्धव स्वामी श्री रामानुज का एवं उनके गुरु का जीवन तथा गुरु परम्परा दी गई। यह ग्रन्थ संवत् 1875 या इसके पूर्व का है। सुमति प्रकाश में चारणी भाषा का प्रयोग विपुल प्रमाण में है। आधे गुजराती और आधे हिन्दी में लिखित इस ग्रन्थ में मधुर और कानों को आनन्द देने वाले 20 विश्राम या अध्याय हैं। इसमें वर्तमान के धर्म एवं गृहस्थ, स्त्री, तथा पुरुषों के धर्मों प्रायश्चित इत्यादि का वर्णन अत्यन्त सरल एवं मनमोहक भाषा में स्वामी जी ने दिया है। ब्रह्मविलास में सवया, मनहर, कुन्डलिया और छप्पय (षट्पदी)—इन चार छन्दों में लिखे हैं। इसमें अलग-अलग 20 विषयों की चर्चा की गई है। उनके पदों में वैराग्य, ज्ञान, भक्ति और प्रीति की विस्तृत बाढ़ हम देख सकते हैं।

स्वामी ब्रह्मानन्द की हिन्दी भाषा की शैली और रचना आज भी उस भाषा का भूषण रूप मानी जाती है। कवीश्वर दलपतराम भाई ने उनके हिन्दी काव्यों का ही आदर्श अपने सामने रखकर उनकी भाषा और शैली का अनुकरण करने में गौरव माना था।

स्वामी ब्रह्मानन्द की कविता में मीराँ—के जैसी संगीतात्मकता, सरलता और सुमधुरता है। इन दोनों की भाषाशैली भी लगभग एक ही है। फर्क है तो केवल इतना कि मीराँ का मन जहाँ मन के भावों और सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों को चिह्नित करने में अधिक रमा है वहाँ ब्रह्मानन्द बाह्य सौंदर्य और माधुर्य पर ही

रीझ कर रह गये हैं।[9]

उदाहरण के लिए उनका एक हिन्दी पद दिया जाता है–

कहान कुंवर सन भाये, आलीरी मेरे कहान कुंवर मन भाये।

मैं ज्युँ खड़ी अपने भुवन में, चलके अचानक आये।।

केमल गत् न जात बखाने, छेल छगन रंग छाये।

ब्रह्मनंद जोर छग मोसे मंद मंद मुसकाये।।

भक्ति कवि रविदास (इ.स. 1764–1795) ने भी नर्मदा लहरी नामक काव्य मधुर एवं प्रासादिक शैली में लिखा है।

कवीश्चर दलपलराम डाह्या भाई ने (इ.स. 1820– 1898) भी ब्रजभाषा में कविता लिखी है। भुज की पाठशाला (पोशाल) में उन्होंने काव्य शास्त्र का अभ्यास किया था। उन्होंने ब्रजभाषा में 'श्रावण ख्यान' नामक काव्य लिखकर बलिराम के महाराजा को अर्पण किया है।[10] उनकी ब्रजभाषा की कविता और श्रवणा ख्यान के विषय में कवि गोकुल का अभिप्राय निम्नलिखित है–

सुभग अर्थ गुन, भरे, सलिल शुभ ताप पाप हर।

छंद अनेकन भाँति विराजत सोइ जलचर।।

मात पिता की भक्ति, प्रेम छठ नेम आछे वरा।

परमहंस मुनि महत, परस्पर पच्छपात कर।।

लही वेद पुरान अनेक मत, सत् संगति शुचि विमल मति।

वृज दरशि परशि सतगांत लहें, नोन कथा तीरथ नृपति।।1।।

9. स्वामी ब्रह्मानन्द की हिन्दी कविता सन्तवाणी मासिक वर्ष 1 अंक 6। –लेखक श्री अंबाशंकर नागर।

10. गुजराती ओए हिन्दी साहित्य मां आपेलो फालो–श्री डात्याभाई देरासरो।

राजै गुन बोज गहराई है गंभीरताई,

नव परभाव भाव घाट विसराम की।।

सविता सुता सी वृज पावन करन इत,

आई कविताई कवि दलपतिराम की।।

मिश्र बन्धुओं के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य इतिहासकारों ने इस कवि अथवा कृति का उल्लेख नहीं किया है। इस सर्वांगसुन्दर काव्य को भी मिश्रबन्धु सामान्य कक्षा में ही रखने का साहस करते हैं।

श्रवणाख्यान 9 वर्गों का प्रबन्ध काव्य है। इसमें कुल मिलाकर 808 छन्द हैं। प्रमुख छन्द कवित्त है। इसके अतिरिक्त उन्होंने चौपाई, सोरठा, छप्पय, सवैया आदि का प्रयोग किया है। उन्होंने सुप्रसिद्ध हिन्दी ग्रंथ 'प्रवीण सागर' के अन्तिम 12 सर्गों को पूरा किया था। इन सर्गों की रचना देखकर इनके ब्रजभाषा-ज्ञान की प्रशंसा करनी पड़ती है।

महाराव लखपती जी, श्री कृष्णराम भट्ट, कवि फकीरुद्दीन, भट्टार्क कनककुशल जसुराम एवं हीराचन्द कानजी भी थोड़ा बहुत योग हिन्दी सेवा में देते रहे। गुजरात के हाफीज माने जाने वाले बालाशंकर कन्थारीमा ने (इ.स. 1859–1898) हिन्दी में कई पद, 'ज्ञानी' काजी अनवरमियाँ ने (इ.स. 1843–1916) अनवर काव्य, डाह्याभाई देरासरी ने (इ.स. 1857–1937) कई गजल, श्री मन्नृसिंहाचार्य जी ने (इ.स. 1854–1897) श्री नृसिंह वाणी विलास, श्री रंग अवधूत महाराज ने (इ.स. 1899) अवधूत गीता, वैद्य कुंवर जी नथुने (इ.स. 1908) कुंवर जी कीर्तन संग्रह, अविनाश नन्द ने (इ.स. 1921) अभिनाश नन्द काव्य और इन्दुमती ह. देसाई जी ने (इ.स. 1935) श्री कृष्ण मन्जरी लिखकर गुजरात की हिन्दी सेवा को सुप्रज्वलित दीप्तिमान ज्योति को अधिक ज्योतिष्मती बनाया है। अभी सौराष्ट्र के एक कवि ने तुलसीदास के 'रामायण' की तरह ही 'वीरायण' नामक महाकाव्य लिखा है। तुलसीदास के नायक थे राम; इस काव्य के नायक हैं जैन

महावीर स्वामी। अवधी भाषा में लिखा हुआ यह महाकाव्य सर्वांग सुन्दर है, और महाकाव्य की कसौटी पर भी खरा उतरता है।

गुजरात ने केवल पद्य में ही हिन्दी सेवा नहीं की। अब गुजरात की गद्य सेवा भी देखें। बड़ौदा के लोकप्रिय नरेश सयाजीराव गायकवाड़ ने कोष निर्माण तथा अन्य प्रकाशनों का प्रारम्भ कराया। दयानन्द सरस्वती की इस विषय में सेवा अविस्मणीय एवं सर्व–जनविदित है। महात्मा गांधी जी की हिन्दी सेवा या राष्ट्रभाषा सेवा सुपरिचित ही है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दो सम्मेलनों के अध्यक्ष बनकर और राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूँगा है, ऐसा लोगों को समझाकर, रचनात्मक प्रवृत्तियों से हिन्दी प्रचार अहिन्दी प्रदेशों में करके और कराके वे अप्रतिम हिन्दी सेवी हो ही चुके हैं। अपना साप्ताहिक 'हरिजन' हिन्दी–हिन्दुस्तानी में निकाल कर उन्होंने राष्ट्र की अविस्मणीय सेवा की है। उनके भाषा विषयक विचारों से शायद हम पूर्णतः एक मत नहीं हो सकते होंगे, पर अगर गांधी जी इतने प्रयत्नशील और कृत संकल्पशील न होते तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा के आसन पर प्रारूढ़ होने में बहुत समय और लग जाता यह तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करना ही होगा। 'नवजीवन प्रकाशन मन्दिर' अहमदाबाद से कई उत्तम हिन्दी ग्रन्थों का प्रकाशन भी उन्होंने करवाया। 'नवजीवन' का यह कार्य आज भी चल रहा है।

गूर्जरीगिरा के साम्प्रत काल के सर्वोत्तम लोकप्रिय लेखक और उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री कन्हैयालाल मुन्शी जी ने भी हिन्दी सेवा में अपना समुचित योग दिया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उदयपुर अधिवेशन के अध्यक्ष रह कर उन्होंने अपूर्व मार्गदर्शन दिया। कई वर्षों तक प्रेमचन्द जी के साथ साथ 'हंस' मासिक का भी सम्पादन उन्होंने किया था। आज वे ही गुजराती लेखकों में से हिन्दी में अधिक प्रिय हैं और उनके बहुत से ग्रन्थों के अनेक अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों को देखकर हिन्दी लेखकों को अपनी भाषा में इस काम की पूर्ति करने का बल और साहस मिला। काका कालेलकर की हिन्दी सेवा से शायद ही कोई अपरिचित है।

श्री इन्द्र बसा बडा के उपन्यास घर की राह, बड़े मियाँ, और शोभा निकाल चुके हैं, जिनकी हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचन्दजी ने भी काफी प्रशंसा की थी।

श्री गिरिधर शर्मा हिन्दी, संस्कृत प्राकृत, पालि, बंगाली, उर्दू इत्यादि भाषाओं का ज्ञान रखते हैं। उन्होंने गुजराती भाषा की श्रेष्ठ पुस्तकों का अनुवाद किया है जिनमें 'राई का पर्वत', 'जया जयन्त', 'सरस्वती चन्द्र', 'युग पलटा', 'महासुर्दन', 'प्रेम कुन्ज', 'उषा' इत्यादि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने स्वतन्त्र हिन्दी ग्रन्थ भी लिखे हैं। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, के प्रधानमन्त्री श्री मोहनलाल भट्ट ने "सोरट्ट, तेरे बहते पानी" नामक मेघाणी के उपन्यास का हिन्दी अनुवाद किया है।

स्व. अब्बास तैयबजी की पुत्री रेहाना को महात्मा गांधी जी की मीराँ का उपनाम दिया गया है। उन्होंने मीराँबाई जैसे ही कई भाववाही भजन लिखे हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित भजन देखिए–

मैं मरा मरा मरा मरा
में मरा मरा मरा तो मिले राम राम राम,
मैं कछू नहीं रहा तो अहो बन गया तमाम॥1॥
मोरे मन में अहँकार अगन भरकती रहो,
मैं जला जला तो अब आराम आराम आराम॥2॥
निज हाथ ले कटारी हृदय चीर चीर दूँ,
मैं दुखी दुखी हुआ तो मिला परमानंद धाम॥3॥
मेरी जीवन पाटो पर अक्षर तो सारे मेल रोल,
मैं मिटा मिटा मिटा तो रहा साफ राम नाम॥4॥
रैहान जग को छांड अरु श्रीहरि को ठंठ,
जीवन वह चला चलारे पीछे क्या बनेगा काम॥5॥

इ.स. 1932 में महात्मा गांधी जी ने यरवडा जेल में हरिजनों के प्रश्न पर 29 दिनों का ऐतिहासिक अनशन किया था। उस प्रसंग पर रेहाना जी के गांधी जी पर के पत्र के बारे में महादेव भाई ने लिखा है–"रेहाना का पत्र तो व्रज की गोपी की याद दिलाने वाला।[11] उस पत्र की भी कई पंक्तियाँ देखें:" बापुजी, जब से मैंने सुना तब से मैं नाच रही हूँ... घड़ी आ गई। आप का यह इरादा तो मेरे लिये किरसन जी की बांसरी ही है उसको सुनकर मैं नाचने लगूँ इसमें भी क्या ताज्जुब?... आपकी इस कुरबानी को मैं कुरबानी नहीं समझती। बल्कि मुझे तो यह नटराज का नाच ही मालूम होना है।"[12]

इस तरह हमें प्रतीत होता है कि भालण के समय से लेकर आज तक गुजरात यथाशक्ति हिन्दी सेवा में अपना योग देता रहा है। इन साहित्यिकों की भाषा हिन्दी भाषी लेखकों जैसी ही शुद्ध, परिमार्जित और लक्ष्यभेधी नहीं हो सकती है। पर अब यह समय दूर नहीं होना चाहिए जब कि हिन्दीभाषी इन कृतियों का सम्यक् अध्ययन एवं आदर करें। इन कवियों व साहित्यिकों के अतिरिक्त भी कई हिन्दी साहित्य हस्त-लिखित ग्रन्थों में, जैन भंडारों में, म्युजियमों में एवं बहुत से लोगों के यहाँ पड़ा हुआ है और विद्वानों तथा अनुसन्धित्सुओं को आह्वान दे रहा है। कि "आओ, हमारे पास रस के एवं संस्कृति के भंडार हैं; इसका स्वयं पान करो और अन्य जनों को भी इसका लाभ दो।" इस विषय पर थोड़ा बहुत अनुसंधान करने की चेष्टा की जा रही है, पर यह विषय तो समुद्र जैसा विशाल एवं गंभीर है। प्रत्येक कवि पर या प्रत्येक शतक के कवि पर गहनता से और सभ्यक् परिशीलन से काम होना अत्यन्त आवश्यक है।

गुजरातियों की हिन्दी सेवा मूक होने पर भी तेजस्वी है। इसमें सूर्य तेज की प्रखरता या आँखों को चकाचौंध कर देने वाली बिजली की प्रभा नहीं है; परन्तु लालटेन की उपयोगिता है। दानेश्वरी का प्रभाव या रसेश्वरी का जादू नहीं है; पर बड़ी बहन की छोटी पर विशेष भाग्यवान बहन की ममता है। यह स्नेह युक्त सेवा हिन्दी के विकास में इतनी उपयोगी है कि हिन्दीभाषियों की हिन्दी सेवा में गुजरात का स्थान शायद प्रथम आ सकता है।[13] □

11. हिन्दी ना विकासमां गूजराती ओनो फालो–'शिक्षण अने साहित्य' –ले. जनक दुवे जनवरी 1952।
12. वही
13. हिन्दी ना विकासमां गुजराती ओनो फालो–'शिक्षण अने साहित्य' जुलाई 1951 –ले. जनक देवे)

श्री अरविन्द के दर्शन का आधार

श्री अरविन्द के योग और दर्शन के आधार हैं वेद। वे वैदिक परम्परा के द्रष्टा और चिन्तक थे। सृष्टिके विकास-क्रम में जिस अति मानसिक चेतना का अवतरण और अभिव्यक्ति उनके पूर्णयोग का लक्ष्य है, वह उनके वेद भाष्य की आध्यात्मिक व्याख्या में परिलक्षित हुआ है। श्रीअरविन्द ने अपने संस्कृत काव्य 'भवानी-भारती' में कहा है कि–

पुनः श्रृणोमीममरण्यभूमौ
वेदस्य घोषं हृदयामृतोत्सम्।
सुज्ञानिनामाश्रमगा मुनीनां
कुल्येव पुंसां वहति प्रपूर्णा॥13॥

भावार्थ–एक बार फिर मैं वनों में वेद के उस स्वर को गुंजरित होते हुए सुन रहा हूँ, जो हृदय में अमृतका स्रोत है। यह मानव-नदी मुनियों के गम्भीर ज्ञानयुक्त आश्रम की ओर बह रही है।

आचार्य काकासाहेब कालेलकर की शिष्य सम्पदा

बबलभाई मेहता : गुजरात में गांधीयुग के अप्रतिम हस्ताक्षर

(जन्म : 10-10-1910, निधन : 27-09-1981)

स्वतंत्रता सेनानी, गांधी विचार के अनुसार 'ग्राम स्वराज' के साहित्यकार श्री बबलभाई काकासाहेब के लेखों से प्रभावित होकर सन् 1928 में गुजरात विद्यापीठ से जुड़े। वहाँ उन्होने दो साल तक ग्रामसेवा और लोकशिक्षण की दिशा में प्रशिक्षण लिया। गांधीजी के ग्राम स्वराज के सपने को साकार करते हुए 1934 से 1937 के बीच त्रासरा/मासरा गाँव में रहकर ग्रामसेवा का कार्य प्रारम्भ किया। 'मारू गांवडुं' (मेरा गाँव) यह पुस्तक ग्रामसेवा के अनुभवों से उपजी। 1937 में गांधीजी की 'बुनियादी शिक्षा' को लागू करने के लिए 'थामड़ा' को अपना कार्य क्षेत्र बनाया। खेड़ा जिले के मातर क्षेत्र में भी हरिजन-सेवा प्रौढ़-शिक्षा, ग्राम सफाई, खादी, नशाबंदी, पुस्तकालय, ग्राम संगठन तथा लोक शिक्षण का अभियान चलाया। उन्होंने गुजराती में 27 पुस्तकों का लेखन किया। जिसमें प्रमुख हैं–रशियानु घडतर (1933) मारू गांवडुं (1939) रविशंकर महाराज (1944) सर्वोदयनी वातो (1956.1957), जीवन सौरभ (1960), समूह जीवन नो आचार (1965) तथा बापु ने प्रतापे (1969) प्रमुख हैं। उन्होंने 1930 से 1942 के बीच स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेते हुए कई बार जेल यात्रा भी की।

गुजरात विद्यापीठ के कुलपति काकासाहेब गांधीजी के समाचार-पत्रों में अपने लेखों के माध्यम से देश के युवकों का आह्वान करते थे। जिसको पढ़कर अनेक युवक गांधीजी के राजनैतिक रचनात्मक आंदोलन से जुड़े और उन्होंने गुजरात में गांधीयुग का इतिहास स्वर्णिम अक्षरों में लिखा। बबलभाई भी उनमें से एक थे। उन्होंने काकासाहेब को पत्र लिखकर मार्गदर्शन मांगा। जिसका निम्नलिखित उत्तर उनके लिए दीक्षा-पत्र बना।

गुजरात विद्यापीठ
अमदाबाद
आषाढ़ सूद 4. बुध

प्रिय भाई बबल मेहता,

मुझे प्रथम तो आपसे क्षमा मांगनी चाहिए। आपका ता. 16 का पत्र मेरे पास अभी तक अनुत्तरित पड़ा है। वह पत्र आया तब उसका महत्त्व देखकर, पहले के आपके पत्रों की बारीकियाँ फिर से पढ़ने के बाद आपको विस्तृत उत्तर देने का सोचा था। गफलत से वह पत्र बाजू पर रह गया, आज फिर से हाथ में आया है।

बात ऐसी है कि मेरे पास जो अनेक पत्र आते हैं, उन पर से लिखनेवाले की मनोदशा का और परिस्थिति का कुछ ख्याल जरूर आता है, किन्तु उसमें व्यक्त किये हुए मनोरथों के पीछे कितनी एकाग्रता है, संकल्प-शक्ति कितनी है, विरोधी मनोरथ या परिस्थिति का सामना करने का हृदय-बल कितना है, इसकी कल्पना पत्र पर से करना मुश्किल है। इसलिए सलाह देते संकोच होता है। एक बार मिलें, कुछ परिचय हो जाय, फिर यह उलझन नहीं रहती। पत्र द्वारा जो निकटता उत्पन्न होती है, वह हर तरह से सच्ची नहीं होती। आप नजदीक होते तो एक बार मिलने बुला लेता।

विवाह के बारे में पहला और आखिरी सिद्धान्त यह है कि मनुष्य में पवित्रता, आध्यात्मिकता अथवा जीवन्त और ज्वलंत समाज-सेवा हो तो, आज मनुष्य विवाह न करे, यही उत्तम है। आज की समाज की स्थिति और युवकों के सामने खड़ा हुआ विश्वतोमुखी

क्रान्ति का आदर्श- दोनों का विचार करते निःशंक रूप से सब युवकों को कह सकता हूं कि यदि आदर्शमय जीवन तुम्हारे लिए शक्य है तो विवाह का विचार तक मत करो और यदि मन की गहराइयों में विलासिता सताती हो, परेशान करती हो, और यह परेशानी मीठी-मधुर लगती हो, और उसका सामना करने का विचार ढीला-सा हो, मन को मोहित करनेवाली हर वस्तु की ओर रसिकता की ही दृष्टि जाती हो, तो स्वतंत्र आजीविका कमाने की ताकत आते ही शादी कर लेनी चाहिए और बड़े-बड़े आदर्शों को व्यवहार में लाने का दंभ छोड़ देना चाहिए।

अब धंधा पसंद करने के विषय में।

हमारी पसंदगी बहुत-कुछ इस पर आधारित रहेगी कि हम अपने परिवार के लोगों के प्रति कैसी वृत्ति रखना चाहते हैं। आप शॉर्टहेन्ड टाईपिंग छोड़ कर बढ़ई का या खेतीबाड़ी का काम पसंद करना चाहते हैं। इस विषय में मैं निःसंकोच सलाह दूंगा। शॉर्टहेन्ड टाइपिंग का धंधा शहरों में ही चल सकता है- और वह भी अधिकतर जहां परदेश के साथ व्यापार चलता हो, वहीं चलेगा। जबतक हमको स्वराज्य मिला नहीं है, अथवा हमारे व्यापारियों में दूरदृष्टि की क्षमता नहीं है तब तक परदेश का व्यापार, राष्ट्र की दृष्टि से तो घाटे का ही रहेगा। आपके-जैसे समाज-सेवक होने की इच्छा करनेवाले को तो उसमें एक दिन भी बिगाड़ना नहीं चाहिए।

समाज-सेवक को एक तरह की संन्यास-वृत्ति धारण करनी चाहिए।

कन्या की शादी हो जाने के बाद जैसे माता-पिता के सुख-दुःख में वह प्रत्यक्ष रूप से साथ नहीं दे सकती, उसका प्रमुख कर्तव्य पति के घर के साथ ही रहता है, वैसे ही समाज-सेवक को कुटुंब और जाति-विषयक कर्तव्यों से संन्यास लेकर समाज-सेवा के कार्य को ही अपना जीवन-कार्य समझना चाहिए और परिणीत कन्या पर से जैसे मायके के लोग अपना सारा हक उठा लेते हैं, उससे किसी तरह की अपेक्षा नहीं रखते, वैसे ही जो समाज-सेवक बनता है, उसके परिवार के लोगों को अपने में अनासक्ति या निरपेक्षता की वृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए। यदि समझकर, यथासमय वे ऐसा न करें तो अपनी दृढ़ता से उनको ऐसी वृत्ति करने में सहायता देनी चाहिए। उनके असंतोष का ताप नहीं सहन कर सकेंगे, ऐसा लगे तो 'पहलेज मनमां मेवडीए' और 'होडे-होडे जुद्धे नव चडीए' अर्थात पहले ही मन में सोच लेना और देखा-देखी युद्ध में शरीक नहीं होना।

देश में जब स्वराज होता है, तब इतनी बहादुरी की जरूरत कम होती है और युवकों के लिए इतनी हिम्मत दिखानी मुश्किल भी नहीं होती। ग्रीष्मकाल में जैसे पानी की आवश्यकता अधिक और पानी मिलना मुश्किल होता है, वैसे ही पारतंत्र्य में पड़े हुए समाज में समाज-सेवा का आदर्श कठिन होता है, और सामान्य आदर्श तक पहुँचने वाले सेवक भी असाधारण कोटि के माने जाते हैं।

बढ़ई के काम से या खेतीवाड़ी के काम से उच्च जाति के युवक कभी इतना नहीं कमा सकेंगे कि अपने परिवारवालों की उच्च-वर्ग की जरूरतें और शौक को पूरा कर सकें। इसलिए ऐसे धंधे पसंद करने-वालों को कौटुंबिक जिम्मेदारी का सच्चा यानि मर्यादित ख्याल ही होना चाहिए। बहन की शादी करनी है, मां को तीर्थ-यात्रा करने ले जाना है, भाई को इन्जिनियरिंग कॉलेज में शिक्षण दिलाना है, पिता का किया हुआ करज मुझे ही चुकाना है, विधवा बहन को, दोनों घरों के विरोध के बावजूद नर्स का शिक्षण देना है, इत्यादि-इत्यादि। मनोरथ छोड़ ही देने पड़ेंगे, और यदि ऐसा न हो सके तो जीवन का सारा उद्देश्य ही बदलना चाहिए।

इनमें से एक भी मनोरथ काल्पनिक नहीं है। इन सब के उदाहरण मेरे पास हैं।

श्रम जीवन ही निष्पाप जीवन है, ऐसा जीवन हम व्यतीत करें और निकटतम और नाजुक-से-नाजुक सगे-संबंधियों को भी ऐसा जीवन व्यतीत करने का

परामर्श दें, उसमें कठोरता नहीं, किन्तु स्वाभाविकता, पवित्रता और प्रतिष्ठा है, ऐसा समझकर चलेंगे, तभी हम समाज-सेवा के आदर्श को पहुँच पायेंगे। एक मजदूर किसी का आश्रित नहीं बनता, न किसी को अपना आश्रित बनाता है। इसीलिए उसका जीवन अत्यंत स्वाभाविक होता है। जो लोग अपने आश्रितों की संख्या बढ़ाते हैं, वे सामाजिक द्रोह करके ही कमाई कर सकते हैं। जो लोग खोटा, गलत, दया-भाव बढ़ाते हैं, उन्हें जाने-अनजाने, सच्ची कठोरता भी करनी पड़ती है, क्योंकि जिनके प्रति प्रेम का या सामाजिक संबंध नहीं है, उनके प्रति कठोर और द्रोही बने बिना, उनका अनुचित फायदा लिये बिना अपने सगे-संबंधियों पर वे दया कर ही नहीं सकते।

अब आप मेहनती जीवन की आवश्यकता और उसका स्वरूप समझ सकेंगे।

शिक्षक का धंधा करना हो, तो शिक्षण के आदर्श प्रथम हृदय में उतारने चाहिए। शिक्षक की दीक्षा लेनी चाहिए। निरीक्षण, परीक्षण और उद्योग का महत्त्व समझ लेना चाहिए। बोध-शक्ति, धीरज अथवा सहन-शक्ति और सेवा-भाव प्रथम अपने में लाने के बाद ही हम शिक्षण-शास्त्री बन सकेंगे और आज तो सच्चे शिक्षण-शास्त्री को अंत्यज, महिला-वर्ग और गाँव के लोगों को शिक्षण देने की जिम्मेदारी प्रथम अपनानी चाहिए। बच्चों को शिक्षण देना जितना जरूरी है, उतना ही बल्कि उससे भी अधिक आवश्यक है गांव के बड़ी उमर के किन्तु अनजान लोगों को शिक्षण देना। इस कार्य के लिए आप तैयार हैं? तैयार हो तो आ जाओ मेरे पास। मुझे आपकी आवश्यकता है।

काका कालेलकर के
सप्रेम वंदे मातरम

इस दीक्षा-पत्र से दीक्षित होने के कुछ दिन के बाद युवा बबलभाई गुजरात विद्यापीठ में आकर रचनात्मक क्षेत्र के सेनानी बनने के लिए आने का संकल्प लेते हैं तो एक बार फिर काकासाहेब उन्हें सचेत करते हुए पत्र लिखते हैं-

गुजरात विद्यापीठ
अमदावाद
आषाढ़ वद 1. सोमवार.

प्रिय भाई बबल मेहता,

आपका पत्र मिला। मेरे पत्र में लिखी सब सूचनाएँ और चेतावनियों का पूरा विचार करने के बाद ही आपने निर्णय किया होगा। आपके भाई ने भी परिवार का आप पर का हक उठा करके ही आपको आज्ञा दी होगी।

आप यहाँ आयेंगे तब इस बात का खास ख्याल रखिये कि आपके कपड़े और बिस्तरे में परदेशी कोई भी चीज न आ जाये। विद्यापीठ का सिद्धान्त है कि यहां के सारे संचालक, सेवक और विद्यार्थी मात्र खादी का ही प्रयोग करें। अस्पृश्यता निवारण, सरकार के साथ का असहकार, उद्योग का महत्त्व, शरीर श्रम करने की तैयारी, गरीबों की सेवा ही सच्चा 'करीयर' है, यह श्रद्धा आप में होगी ही, ऐसा मैं मानता हूँ। विद्यापीठ ही उसके सेवकों का 'इन्श्योरन्स' है। सेवकों की आजीविका के लिए कभी उलझन पैदा नहीं होती। यह अनुभव या श्रद्धा आप में होगी या आ जायेगी, ऐसा मैं मानता हूँ।

काका के सप्रेम शुभाशीष

सन् 1928 से लेकर 1981 तक बबलभाई ने गुजरात के विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों में रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से गांधीजी के 'ग्राम-स्वराज' के विचार को अपनी अटूट निष्ठा और तपस्या से असली जामा पहनाया। कृतकृत्य आचार्य ने निम्नलिखित लेख के माध्यम से, राष्ट्र की ओर से, कृतज्ञता प्रकट की-

सेवावीर बबलभाई

उपनिषदों में ऋषि की ओर से शिष्यों का एक अनुशासन आता है। गुरु अपने अंतेवासियों से कहता है, 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव' और आगे जाकर कहता है, 'आचार्यदेवो भव।' माता-पिता,

अतिथि और आचार्य को ईश्वर तुल्य समझने वाले बनो, यह है शिष्यों के लिए आदेश। तब आचार्यों के लिए भी तो कोई आदेश होना चाहिए। **छात्रदेवो भव** यही हो सकता है वह आदेश। अपने छात्रों को, अपने शिष्यों को देव समझने वाले बनो यानी 'अपने अंतेवासियों को परमात्मा की विभूति समझो, जिनकी सेवा द्वारा परमात्मा की सेवा-उपासना करने का मौका तुम्हें मिलता है।'

छात्रदेवो भव वाले आदर्श और आदेश का पालन करते हुए मैं अपने जिन विद्यार्थियों का समय-समय पर स्मरण करता हूँ, उनमें श्री बबलभाई मेहता का भी स्थान है।

देहातों में जाकर वहाँ के लोगों की आदर्श सेवा करने की बात अक्सर करता आया हूँ। दाक्षिणात्य होने के कारण ग्राम सेवा का प्रारम्भ भी मैंने कई दफे किया है। लेकिन कई कारणों की बदौलत मैं वहाँ टिक नहीं सका।

मेरे गाये हुए उस आदर्श को अमल में लानेवालों में जिस तरह श्री जुगतराम-भाई हैं, उसी तरह श्री बबलभाई भी हैं। फर्क इतना ही है कि जुगतरामभाई शुरू से मेरे साथी थे और बबलभाई विद्यार्थी।

इसके अलावा दोनों में दूसरा एक भेद है। श्री जुगतरामभाई को सेवा के लिए संस्थाएँ खड़ी करने का, उन्हें चलाने का और उनका विस्तार करने का अनुभव है। उसमें उन्हें सफलता भी मिली है। इधर हमारे बबलभाई ने कोई संस्था खोलने का कभी सोचा तक नहीं। वे मुक्त सेवक होकर गुजरात भर में घूमते हैं। और अनेक संस्थाओं में रहकर आत्मीयता से सेवा करते हैं,

उनके संचालन में मदद करते हैं और फिर भी अलिप्त के अलिप्त। उनकी अपनी एक भी संस्था नहीं है। इसलिए गुजरात भर की सारी संस्थाएँ उन्हीं की हैं।

योग की और कला की व्याख्या करते हुए मैंने दो शब्दों का उपयोग किया है। तादात्म्य और ताटस्थ्य। किसी भी व्यक्ति, ध्येय मूर्ति, संस्था या प्रवृत्ति के साथ समरस और एकजीव होकर सेवा करने में या ध्यान करने में पूरा-पूरा तादात्म्य होना चाहिए। साथ-साथ मोहवश न होकर अलिप्त भाव भी उसके साथ होना चाहिए। कोई आदमी शादी करने के लिए किसी लड़की को पसंद करता है तब सौंदर्य का जो ख्याल करता है, वह अलग है। और केवल चित्र खींचने के लिए व्यक्तित्व वाला कोई चेहरा पसन्द करता है तब उसकी दृष्टि अलग होती है। जिसमें स्वार्थ नहीं है, अभिमान नहीं है, आसक्ति नहीं है, उस वृत्ति को हम ताटस्थ्य कहते हैं। ऐसा तादात्म्य और ताटस्थ्य एक ही वस्तु के प्रति जो एक साथ विकसित करे, उसे मैं योगी कहता हूँ। ऐसा अद्‌भुत सेवा-योग बबलभाई ने साधा है। सब व्यक्ति और सब संस्थायें उन्हीं की हैं और तो भी किसी के साथ वे बँधे हुए नहीं हैं। **उनका यह सेवा योग सचमुच जीवनयोग है।**

सेवा धर्म से प्रेरित होकर जिस तरह वे असंख्य संस्थाओं में घुल-मिल जाते हैं, उसी तरह अनेक कुटुम्बों में भी बबलभाई का प्रवेश है। स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, वृद्ध-तरुण सब के साथ काम करते उनको तनिक भी संकोच नहीं होता। विनोद वृत्ति और प्रसन्न खुश-मिजाजी इसमें उनकी बहुत मदद करती है। ऐसा होते हुए भी न कभी मैंने उन्हें देखा, सुना या जाना है कि वे कहीं भी मोह में फंसे हैं।

जिस तरह उन्होंने अपने लिए विवेचन-शक्ति कमाई है। उसी तरह विवेचन से लोकमानस को प्रभावित करने योग्य वाणी की योग्यता और कलम की खुमारी भी उनके पास है। तो भी साहित्य विलास की ओर वे कभी नहीं मुड़े हैं। शैलीसौरभ पाने के लिए कोशिश करना मानो उनके क्षेत्र में आता ही नहीं। सौरभ को अपने आप खिलने देने का आदर्श उन्होंने पसंद किया है। **–काका कालेलकर**

प्रस्तुति : **प्रो. रमेश भारद्वाज**
एवं सन्निधि परिवार

□

बोडो भाषा ऑफलाइन/ऑनलाइन पाठ्य सामग्री निर्माण कार्यशाला का आयोजन

गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा द्वारा संचालित बोडो स्टडी सेन्टर के द्वारा दिनांक 28-08-2026 से 30-08-2026 तक त्रिदिवसीय कार्यशाला बोडो साहित्य सभा के गौहाटी मुख्यालय में आयोजित हुई। जिसमें बोडो साहित्य सभा के सभापति श्री गोपी नाथ बरग्यारी, महासचिव श्री नीलकान्त बरग्यारी, गौहाटी विश्वविद्यालय के प्रो. अनिल बोडो, डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय के डा. बृदुल बसुमतारी, बोडो लैण्ड युनिवर्सिटी के डा. सिबीसन नार्झारी और गौहाटी के विभिन्न कॉलेजों के प्राध्यापक श्री डा. प्रणव ज्योति नार्झारी, डा. बोहविथी बरग्यारी, डा. रविराम नार्झारी और संसुमा ब्रह्म शामिल हुए। सभा की तरफ से प्रो. रमेश भारद्वाज उपस्थित रहे।

—सम्पादक

सुश्री सुरेन्द्र सैनी को श्रद्धांजलि

स्वतंत्रता सेनानी दिल्ली की सुप्रसिद्ध वरिष्ठ समाज सेविका एवं गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा की ट्रस्टी सुश्री सुरेन्द्र सैनी का 98 वर्ष की आयु में गुरुग्राम में 20 अगस्त, 2026 को निधन हो गया। उनका जन्म 1928 में हुआ। भारत सेवक समाज, दिल्ली, दिल्ली समाज कल्याण बोर्ड, आल इंडिया फेडरेशन ऑफ डीफ (AIFD) की अध्यक्ष, तथा नई दिल्ली नगर पालिका की पूर्व उपाध्यक्ष रहीं। इसके अलावा गांधी विचार की विभिन्न संस्थाओं और सरकारी समितियों के सदस्य के रूप में आपका योगदान रहा है। सन् 2006 से सैनी जी गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा की सदस्य एवं ट्रस्टी रही।

उनकी सेवाओं और योगदान को दृष्टि में रखते हुए भारत सरकार ने 1970 में उन्हें पद्म-भूषण से अलंकृत किया।

सन्निधि परिवार की ओर से सादर श्रद्धांजलि

—कुसुम शाह

सभापति

POSTED AT LPC DELHI RMS, DELHI-06 डाक रजि. संख्या डी.एल.(सी.)-01/1242/2024-26
डाक से भेजने की तारीख 5-6 सितम्बर, 2026 Postal R.No.DL(C)-01/1242/2024-26
प्रकाशन की तारीख 3 सितम्बर, 2026 मंगल प्रभात मासिक आर.एन.आई.-813/57

अस् पर से असत् यानी आदिम सत्य

✍ काका कालेलकर

कहते हैं, 'सत्' शब्द अस् धातु पर से आया है। अस् याने होना। मराठी में भी अस् अथवा असणें धातु है, जिसका अर्थ है होना। इस अस् धातु में से 'अ' कैसे निकल गया और 'त्' कैसे आया, सो ढूँढ़ना पड़ेगा। लेकिन जो हमेशा के लिए है, वही है सत् इस वास्ते अस् और सत् के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध हो ही सकता है, इसमें कोई शक नहीं।

इस सत् को य प्रत्यय लगाने से सत्य शब्द बनता है। (य प्रत्यय स्वार्थी है।)

अब सत्य शब्द का अर्थ बताते हुए चन्द लोगों ने सत्य के तीन अक्षर स् त् और य के तीन अर्थ बताये हैं। 'स' याने अमृत, जिस चीज का कभी नाश होता नहीं। 'त्' याने जो मरणशील है; बदल जाती है। इसलिए जो 'नहीं' है, उसे त् कहा जाए और 'य' याने जो 'स' और 'त' दोनों पर अपना काबू रखता है। इस तरह से सत्य शब्द का पूरा भाव बताने के लिए कृत्रिम अर्थ बताया है। इसे केवल समझकर हम एक ओर रख दें।

अब सत् अथवा सत्य को अ उपसर्ग लगाकर 'असत्,' अथवा 'असत्य' बनाया गया। जिसमें सत् अथवा सत्य का अभाव है उसे असत्य कहते हैं। 'अ' का अर्थ 'अभाव' है। इस उपसर्ग को लगाकर 'अभाव' बताने वाले असंख्य शब्द बनाये जाते हैं।

तैत्तरीय उपनिषद् में एक वचन आता है असतो सत् जायत, अथवा, असद् व इदमग्र आसीत् ततो वै सत् आजायत। इसका सीधा अर्थ होता है, सबसे पहले सचमुच यह असद् ही था। इस असद् में से सत् पैदा हुआ। ऐसा सीधा अर्थ मान्य करते बड़ा संकोच होता है। असद् याने शून्य शून्य में से सत् पैदा हुआ। ऐसा अर्थ हम कैसे मान्य करें? दार्शनिकों ने कहा है कि जिसे हम सत् कहते हैं, वह तो हमारी चेतना में (समझ में), आ सकता है, लेकिन इसके भी पहले एक अस्तित्व है, जिसके लिए न रूप है, न गुण, न क्रिया। इसलिए उसके होते हुए भी वह ध्यान में नहीं आ सकती। गाढ़ निद्रा में हमें भान नहीं होता कि हम सोये हुए हैं। वह तो केवल गाढ़ निद्रा ही है। इसी तरह आत्मा भी है, किन्तु ध्यान में नहीं आ सकती। सत्य के पहले रूपगुण क्रियारहित जो परम और आदिम सत्य है, उसी को उपनिषदों में असद् कहा है।

अब मेरा कहना है कि उपनिषद् में सद् के पहले का असद् बताया है, वह स्वतन्त्र स्वयंभू शब्द है सद् को अ उपसर्ग लगाकर। असत् नहीं बनाया गया है। किन्तु जब अस् धातु में से सद् बनाया गया तब उसमें से अ न हटाकर असद् शब्द बनाया गया। इस तरह परम, आदिम सद् का अपना नाम असद् पर से आता हुआ यह शब्द है इस असद् में से अपना अ निकालकर सद् बनाया गया, जो हमारी चेतना का विषय है।

ऊपर दिए हुए उपनिषद्-वचन में जो असद् वचन दिया है, वह सद् को अष का उपसर्ग लगाकर नहीं, किन्तु अस धातु का 'अ' अक्षर कायम रखकर, जो मूल में असद् शब्द बन गया, वही यहाँ पर उपनिषद्कार ने दिया है। यह है मेरा मौलिक सुझाव। इस दृष्टि से सब कुछ सीधा बन जाता है। □

प्रकाशक एवं मुद्रक **कुसुम शाह** द्वारा **गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा**, 1, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, सन्निधि, राजघाट, नई दिल्ली-2 के लिए प्रकाशित तथा **आदर्श प्रेस**, 2023, कूचा चेलान, दरिया गंज, नई दिल्ली-2 से मुद्रित। *संपादक* : **प्रो. रमेश भारद्वाज**